National Journal of Multidisciplinary Research and Development
ISSN: 2455-9040
Impact Factor: RJIF 5.22
www.nationaljournals.com
Volume 3; Issue 1; January 2018; Page No. 626-629

प्राचीन भारतीय प्रशासन संचालन में प्रचलित दण्डात्मक न्याय प्रणाली

चन्द्रोदय सिंह
इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा0 रा0मो0लो0अ0वि0, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश भारत।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय समाज में प्रागैतिहासिक काल से लेकर सभ्यता के चरमोत्कर्षकाल तक की कहानी वस्तुतः न्याय से अभिप्रेरित रहा है। क्योंकि विविध मानव मण्डलियों में पारस्परिक संरक्षण की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रही है। एक मानव समूह, दूसरे मानव समूह के सम्मान, धन, भूमि आदि के हरण के लिए अनवरत प्रयासरत् रहता था। मनुष्य जैसे ही सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ, जीवन रक्षा एवं धनरक्षा के मूल प्रवृत्ति की सन्तुष्टि हेतु, सामुदायिक जीवन का विकास किया। फलतः समुदाय के अपने रीति–रिवाज, परम्परा, आचार नियम संगठित हुए, जिनका पालन समुदाय के सदस्यों के लिए अपरिहार्य था, जो मनुष्य के स्वाभाविक स्वार्थपरक्रमी और उच्छृंखलता का अवरोध करके समाज को विघटित होने से रोकते है। सामाजिक नियमों की अवहेलना करने वाले से समुदाय के सदस्य व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से प्रतिशोध लेते थे। अपराधों में वृद्धि के साथ व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रतिशोध में गतिरोध उत्पन्न हो गया, क्योंकि इससे विद्वेष भाव बढ़ने लगा। फलतः समाज के वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा न्याय का क्रियान्वयन किया जाने लगा। वैदिक काल में उक्त जनजातीय लक्षण दृष्टव्य होता है वेदों में सभा, समिति और परिषद द्वारा न्याय प्रदान किये जाने का उल्लेख मिलता है, जो मुख्यतः राजनीतिक संस्था थी। वेदों में सभा को 'किल्विषस्पृत' (अपराधों के लिए दण्ड देने वाला) कहा गया है।[1] न्यायविधि के रूप में 'ऋत' अथवा 'शाश्वत सत्य' की नैसर्गिक संकल्पना वेदों में निहित है। 'ऋत' की उत्पत्ति दैवी रूप में 'तप' द्वारा सर्वोच्च शक्तिशाली नियम के रूप में हुआ, जो अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता था। मित्र तथा वरुण को न्याय का अभिरक्षक देवता स्वीकार किया गया, जो ऋत के उल्लंघनकर्ता को दण्ड भी देते थे।[2]

परवर्ती काल में राजशक्ति के विकास के साथ जिस राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना हुयी उसमें राजा न्यायपालिका का शीर्ष स्तम्भ बन गया। दूसरे अर्थों में राजा न्यायपालिका का मूल उद्गम था। प्रजापति ने उसका उद्भव दुष्टों को दण्ड तथा सद्व्यक्तियों की रक्षा के निमित्त किया था। प्रजा का रंजन तथा अपराधियों को दण्डित करने के कारण वह दण्डधर था। दण्ड के माध्यम से ही वह प्रजा की रक्षा करता है अन्यथा दण्डाभाव से मत्स्य न्याय प्रभावी हो जायेगा। धर्मपूर्वक व्यवहार नियमन से राजा पुरूषार्थ चतुष्ट्य तथा जन अनुराग की प्राप्ति का अधिकारी होगा। न्यायपालिका के गंगोत्री होने के कारण समस्त यश–अपयश का श्रेय राजा को प्राप्त होता है। अतैव शास्त्रानुसार न्याय नियमन अनिवार्य है और इसी कारण ब्रह्मा ने दण्ड रूप में धर्म की सृष्टि की है। राजा के निकट रक्त सम्बन्धी अथवा निकटतम व्यक्ति भी न्यायालय में विधि एवं दण्ड के अधीन थे।

शासन संस्था के साथ न्याय–व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शासन व्यवस्था के विकास के साथ ही भारत वर्ष में न्याय व्यवस्था का भी समुचित विकास हुआ था। अराजक दशा से मुक्ति पाने के लिए और सामान्य जनता के सुखी जीवन के लिए शासन पद्धति ने जन्म लिया। अतः आवश्यक था कि सामान्य जन परस्पर न्यायोचित व्यवहार करें तथा राजकीय नियमों का पालन करे। शासन का यह भी कर्तव्य था कि जनता को उचित न्याय प्राप्त हो सके, इसके लिए भारतवर्ष में सुव्यवस्थित न्याय व्यवस्था का संगठन हुआ।

आधुनिक युग की भांति प्राचीन काल में भी न्याय की समुचित व्यवस्था करना राजा का आवश्यक कार्य था। क्योंकि दण्ड–शक्ति के प्रयोग द्वारा मत्स्य न्याय को दूर करने के लिए ही राजा की उत्पत्ति हुई थी। राजा का प्रथम कर्तव्य है प्रजा की रक्षा करना हैं। प्रजा के रक्षार्थ न्याय एवं दण्ड की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

कौटिल्य के अनुसार दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षकी त्रयी एवं वार्ता का स्थायित्व एवं रक्षण होता है। दण्ड प्रणाली न्याय–व्यवस्था का अंग थी, अपराध का निर्णय हो जाने पर दण्ड देने की कार्यवाही की जाती थी।

मनु एवं कौटिल्य ने अपराध के अनुरूप अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया हैं। इन दण्डों के अनेक प्रकार एवं अनेक रूप हैं। ये दण्ड वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड, कायदण्ड अथवा वधदण्ड[3], कारागारदण्ड[4], जाति–बहिष्कारदण्ड[5], प्रायिश्चतदण्ड[6], निर्वासनदण्ड[7] सम्पत्तिदण्ड[8] आदि है। वाणी द्वारा समझाना, बुझाना अर्थात अपराधी को उसके अपराध से परिचित कर उसे समझा–बुझाकर छोड़ देना वाग्दण्ड माना गया है। अपराधी द्वारा किये गये अपराध को लक्ष्य कर उसे बुरा भला कह कर मुक्त कर देना धिग्दण्ड बतलाया गया है। अपराधी से दण्ड रूप में धन ग्रहण कर उसे मुक्त कर देना धनदण्ड अथवा अर्थ दण्ड माना गया है। कायदण्ड अथवा वध दण्ड के अन्तर्गत विविध प्रकार से शारीरिक दण्ड, बेंत या रस्सी से मारना, अंग–भंग करना एवं मृत्युदण्ड परिगणित किये गये हैं। राज्य में कारागारों के निर्माण की ओर संकेत किया गया है। मनु कारागार को बन्धन–गृह के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने व्यवस्था दी है कि राजा को अपने राज्य में राजमार्गो के समीप बन्धन–गृहों का निर्माण करना चाहिए और उसको इन बन्धन–गृहों का निरीक्षण समय–समय पर करना चाहिए। इस व्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट है कि मनु ने एक श्रेणी के कतिपय अपराधियों को बन्धन–गृह में रखकर उनसे दण्ड की अवधि का भुगतान कराना उचित समझा है। मनु ने कतिपय अपराधों के लिए जाति–बहिष्कारदण्ड भी निर्धारित किया है। कुछ के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। यह प्रायश्चित अपराध की लघुता एवं गुरुता के अनुसार सुसाध्य एवं क्लिष्टसाध्य अनेक प्रकार का हो सकता है। कुछ अपराधों के लिए अपराधी की सम्पत्ति हरण कर लेने के दण्ड का विधान किया गया है। कुछ ऐसे अपराध भी बतलाये गये हैं जिनके लिए अपराधी को निर्वासन दण्ड दिया जा सकता है।

निष्पक्ष न्याय करने वाले राजा को न्याय करने से वही फल मिलता

है, जो पवित्र वैदिक यज्ञ करने से प्राप्त होता है।[9] निरपराधी को दण्ड देने वाले राजा को न केवल नरक का भय था[10], अपितु प्रजा भी उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी।[11]

मनु ने संक्षेप में दण्ड के दस स्थान माने हैं– लिंग, उदर, जिह्य, हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान, धन और देह। उनका मत है कि अनुबन्ध को समझ कर देश काल और परिस्थिति के अनुसार अपराध की लघुता एवं गुरुता का विचार करना और अपराधी की सामर्थ्य के अनुरूप दण्ड देना चाहिए।

मनु ने अपराधियों के लिए नाना प्रकार एवं नाना रूप मे दण्ड–विधान किया है परन्तु दण्ड विधान सोच समझ कर करना चाहिए। मनु का मत है कि अधर्मपूर्वक दण्ड प्रदान कभी नहीं करना चाहिए। अधर्म से दण्ड देने से संसार में अयश एवं अकीर्ति होती है और परलोक में स्वर्ग का नाश होता है। जो राजा दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों को दण्ड देता है और दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता है वह अयश प्राप्त करता है और नरक जाता है। इस दृष्टि से मनु का यह निश्चित मत है कि दण्ड निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाने चाहिए। इन सिद्धान्तों का मनु ने संक्षेप में उल्लेख किया है। दण्ड–प्रदान करने के पूर्व अपराध का प्रसंग, अपराध की मात्रा, उसके प्रकार एवं स्वरूप, अपराधी की सामर्थ्य, देशकाल और परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए और इसके उपरान्त दण्ड प्रदान किया जाना चाहिए। मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड–प्रदान में एकरूपता उस रूप में दिखलायी नहीं पड़ती जैसा कि आधुनिक काल में दिखाई पड़ती है। एक ही अपराध के लिए सभी अपराधियों को समान दण्ड मिलना चाहिए। मनु इस सिद्धान्त को नहीं मानते। समाज में विभिन्न स्तर के लोग होते हैं। उनके आचार–विचार, विद्या, ज्ञान आदि में अन्तर होता है इस अन्तर के अनुरूप ही उनके द्वारा किये जाने वाले अपराध के लिए पृथक–पृथक दण्ड होना चाहिए। मूर्ख और विद्वान को समान दण्ड देना उचित न होगा। ऐसा मनु का मत है। परन्तु दण्ड की इस अनेकरूपता में भी एकरूपता मानी गयी है। एक ही प्रकार के अपराध करने वाले मूर्ख और विद्वान के दण्ड में वाह्य अन्तर अवश्य रहता है, परन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही है। विद्वान पर वाक्दण्ड, सम्भवतः वही प्रभाव डालता है। जो कि मूर्ख पर कायदण्ड अथवा अर्थदण्ड। इसलिए दोनों के दण्डों में अन्तर दिखलाई पड़ते हुए भी दोनों का उद्देश्य एक ही रहता है।

प्राचीन भारत में न्याय–व्यवस्था के अन्तर्गत अपराधी को अपराध के स्तर के अनुरूप विविध प्रकार का दण्ड अधिरोपण होता था। जिसे मुख्य रूप से चार वर्गो में विभाजित किया जा सकता है– (1) वाग्दण्ड (2) धिग्दण्ड (3) अर्थदण्ड (4) मृत्युदण्ड।[12] मनु और याज्ञवल्क्य ने भी इन चार दण्डों की पुष्टि की है, जिससे विदित होता है कि वाग्दण्ड का कथन है कि तुमने उचित नहीं किया है, धिग्दण्ड का कथन है कि तुम्हे धिक्कार है, क्योंकि तुम पापी और अधर्मी हो, अर्थदण्ड में क्षति के रूप में धन का अधिरोपण किया जाता था और मृत्युदण्ड महापातकों को दिया जाता था। मनु ने इन्हें क्रमशः उत्तरोत्तर दण्ड बताया है और वाग्दण्ड से मृत्युदण्ड की ओर बढ़ने का सलाह दिया है अर्थात् अपराधी को सर्वप्रथम वाग्दण्ड देना चाहिए वाग्दण्ड प्रभावी न हो तो धिग्दण्ड देना चाहिए फिर भी वह कुकृत्य न छोड़े तो उसे अर्थदण्ड देना चाहिए यदि वह पुनः अपराध की पुनरावृत्ति करे तो उसे मृत्युदण्ड देना चाहिए।[13]

अपराधी को किसी अपराध के कारण जो क्षतिपूर्ति धन के रूप में दण्डस्वरूप अधिरोपण किया जाता था, वह अर्थदण्ड कहलाता था। प्राचीन भारतीय न्यायव्यवस्था में अर्थदण्ड का प्रचलन वैदिककाल से लेकर अन्त तक था। वर्तमान न्यायव्यवस्था में भी इस दण्ड का प्रचलन मिलता है। वैदिककाल में गाय के रूप में क्षतिपूर्ति देना पड़ता था, चूंकि गाय वस्तु–विनिमय का माध्यम था, अतः गाय के रूप में की गयी क्षतिपूर्ति अर्थदण्ड की श्रेणी में आता था। मौर्यकाल से सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया है, अतः मौर्यकाल से अर्थदण्ड मुद्रा के रूप में अधिरोपित किया जाने लगा जो मौर्योत्तर काल तथा गुप्तकाल में भी विद्यमान रही। अर्थदण्ड साधारणतः छोटे अथवा माल सम्बन्धी अपराधों में दिया जाता था, यदा–कदा शारीरिक दण्ड और अर्थदण्ड साथ–साथ अधिरोपित किया जाता था।

अर्थदण्ड कितना हो? इस सम्बन्ध में विभेद मिलता है। मनु के अनुसार अपराध के स्तर एवं व्यक्ति के सामर्थ्य के अनुसार अर्थदण्ड अधिरोपित किया जाना चाहिए। नारद के अनुसार अर्थदण्ड की मात्रा एक ककनी से लेकर सम्पूर्ण सम्पत्ति के आहरण तक हो सकती है।[14] अपराध के स्तर के अनुरूप अर्थदण्ड के तीन भेद हैं, प्रथम साहस दण्ड, मध्यम साहस दण्ड, और उत्तम साहस दण्ड। सभी धर्मशास्त्रकारों ने इस भेद को स्वीकार किया, परन्तु पणों की संख्या में भिन्नता दृष्टव्य होता है।[15] मनु ने प्रथम, मध्यम तथा उत्तम साहस दण्डों में अर्थदण्ड क्रमशः 250,500 तथा 1000 पण स्वीकार किया। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः 270,540 तथा 1080 पण स्वीकार किया। शंख ने क्रमशः 24 से 91 पण, 200 से 500 पण, तथा 600 से 1000 पण स्वीकार किया। इसकें अतिरिक्त प्राचीन भारत में एक ही अपराध में अर्थदण्ड में भी लिंग, वर्ण, सामाजिक स्तर इत्यादि के अनुरूप विभेद मिलता हैः– स्त्री को पुरुष की अपेक्षा आधा अर्थदण्ड देना पड़ता था। जहाँ प्राचीन भारत में उच्च वर्णों पर क्रमशः कम अर्थदण्ड का अधिरोण हुआ है वही चोरी के मामले में इसकी स्थिति ठीक विपरीत है। शूद्र के दूना वैश्य, चार गुना क्षत्रिय तथा ब्राह्मण पर आठ गुना अर्थदण्ड आरोपित किया जाता था।[16] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण सत्य धर्म रक्षक होता था अतः चोरी की स्थिति में उसका अपराध अधिक होता था तथा साथ ही कम अर्थदण्ड अधिरोपण से उसे विशेष आर्थिक क्षति महसूस नहीं होगी क्योंकि वर्णों के सामाजिक स्तर के अनुरूप उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ होती थी।

इस प्रकार प्राचीन भारत में अर्थदण्ड का व्यापक प्रचलन मिलता है, जिसे राजकोष में वृद्धि का साधन स्वीकार किया गया था और इसका कुछ भाग राजा ब्राह्मण अथवा अपकारित व्यक्ति को देता था।

दण्ड का सबसे कठोरतम अथवा अन्तिम दण्ड मृत्युदण्ड था। प्राचीन भारत में यद्यपि इस दण्ड का यथासम्भव प्रतिकार किया जाता था, परन्तु प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में इस दण्ड का प्रचलन मिलता है। अशोक जैसे कल्याणकारी शासक ने भी धौली शिलालेख में इस दण्ड का स्पष्ट उल्लेख किया है।[17] धर्मशास्त्रों मे महापातकों से सम्बन्धित अपराध के लिए मृत्युदण्ड का विधान मिलता है परन्तु राजशक्ति के विकास के साथ राजद्रोह सम्बन्धित वाद को भी मृत्युदण्ड अनिवार्य था। कौटिल्य ने अभिमत व्यक्त किया कि शास्त्रास्त्रों से हत्या करने पर भी मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए। मनु ने विधान किया कि प्रायश्चित न करने वाले को मृत्युदण्ड देना चाहिए, परन्तु ब्राह्मण को मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था। यदि ब्राह्मण वध योग्य अपराध करता है। तो उसका वधन न करके, उसके केशों का मुण्डन कर देश से निष्कासित कर देना चाहिए। सिर के केशों का मुण्डन करा देना ही ब्राह्मण के लिए प्राणदण्ड है।[18] इसके अतिरिक्त मनु ने निम्न वर्ण के पुरुष को उच्च वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर मृत्युदण्ड का विधान किया। याज्ञवल्क्य ने मनु के विचारों का समर्थन करते हुए अभिमत व्यक्त किया है कि अपने से उच्च जाति की भार्या से व्यभिचार करने पर

दोषी पुरुष का वध कर देना चाहिए। बुद्धहरीत में आग लगाने वाले, हत्यारों, डकैतों, दुष्टों, दुराचारियों, विष देने वाले तथा महापातकों को मृत्युदण्ड का विधान मिलता है।[19] इस प्रकार प्राचीन भारत में न्यायदण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत मृत्युदण्ड का प्रचलन मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दण्ड विधान कठोर था, साधारण अपराधों में भी मृत्युदण्ड का विधान मिलता है। मेगस्थनीज के विवरण से पता चलता है कि अपराध बहुत कम होते थें। जो व्यक्ति कर नहीं देते थे, उन्हें भी मृत्युदण्ड का विधान नहीं था, वध योग्य कृत्यों के लिए भी क्षतिपूर्ति एवं प्रायश्चित का विधान था। परन्तु धीरे–धीरे समाज में अपराधों की संख्या बढ़ती गयी फलस्वरूप मृत्युदण्ड कठोरतम् दण्ड के रूप में प्रकटीकरण हुआ। महाभारत में मृत्युदण्ड के औचित्य पर राजा द्युमत्सेन तथा राजकुमार सत्यवान के बीच हुए संवाद पर प्रकाश पड़ता है। राजा द्युमत्सेन ने इस पर अपना मत व्यक्त किया कि प्रारम्भ में ऐंसा नहीं था, परन्तु निरन्तर बढ़ते अपराधों को रोकने के लिए मृत्युदण्ड का विधान करना पड़ा। इसमें अपराधी भयभीत हो जाते हैं और अपराध नहीं करते हैं।[20] स्मृतिकाल के पश्चात दण्ड की कठोरता में कमी आयी परन्तु मृत्युदण्ड का प्रचलन समाज में व्याप्त रहा। गुप्तकाल में ब्राह्मणों को भी मृत्युदण्ड देने का विधान मिलता है। मृच्छकटिकम् से पता चलता है कि बसन्तसेना की हत्या पर ब्राह्मण चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया गया था। यद्यपि प्राचीन भारत में प्रारम्भ से लेकर गुप्तकाल तक मृत्युदण्ड का विधान था परन्तु इस सम्बन्ध में विधिवेत्ताओं में कभी भी एकरूपता नहीं रही। शुक्र का अभिमत था कि किसी जीवित प्राणी की हत्या नहीं करना चाहिए, यह श्रुति का सत्य है। अतः राजा को मृत्युदण्ड न देकर आजीवन कारावास के माध्यम से अपराध पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

उपसंहार

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विधिक स्त्रोतों से मृत्युदण्ड का विधान था जो प्राचीन न्याय व्यवस्था में व्यवहार में लाया जाता था, परन्तु मृत्युदण्ड अन्तिम विकल्प के रूप में प्रयोग किया जाता था, पहले वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, अर्थदण्ड एवं प्रायश्चित आदि द्वारा सुधारात्मक प्रयास किया जाता था। जघन्य अपराधों में सीधे मृत्युदण्ड दिया जाता था यथा–राजद्रोह, ब्राह्मण हत्या इत्यादि।

प्राचीन भारत में न्यायवस्था के अन्तर्गत वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, अर्थदण्ड और मृत्युदण्ड के अतिरिक्त अन्य दण्ड भी प्रचलित था। यथा–शारीरिक–दण्ड,देशनिष्कासनदण्ड, बंधनागारदण्ड इत्यादि। जिसका व्यापक रूप से प्रचलन प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में होता था। धर्मशास्त्रकारों ने यह विधान किया कि चोरी, आक्रमण, व्यभिचार, बलात्कार, नरहत्या इत्यादि अपराधों में अपराधी केवल धन देकर ही अन्यायग्रस्त व्यक्ति की क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती, अपितु उसके साथ अपराधी को शारीरिक दण्ड देना आवश्यक होता है।[21] शारीरिक दण्ड के अनेक विभेद हैं यथा–वेंत मारना, उल्टा लटकाना, रस्सी एवं कोड़े मारना, हाथ, पैर आदि अंगों को कटवाना, नाक मे नमक का पानी डालना, शरीर के मर्म स्थानों का छेदन, नाखूनों में सूइयाँ चूभाना, जाड़े में भीगी खाट पर सुलाना इत्यादि। शारीरिक दण्ड के विषय में मनु का अभिमत है कि शूद्र ब्राह्मण का धर्म–उपदेश गर्व के साथ करने लगे तो उसके मुख और कान में उबलता हुआ तेल डाल देना चाहिए। विष्णु–धर्मसूत्र तथा नारद स्मृति में मनु के विचारों का समर्थन मिलता है। इसी प्रकार विधान मिलता है कि शूद्र द्विजातियों के जाति आदि का नाम अक्रोश से ले तो उसके मुख में दश अंकुल की लौहशाला डाल देना चाहिए। अंत्यज जिन अगों में द्विजाति पर प्रहार करे उसका वह अंग काट देना चाहिए। नकली सोना, निषिद्ध वस्तुओं को बेंचने पर नाक–कान काट दिये जाने का विधान मिलता है।[22] इस प्रकार प्राचीन भारत में छोटे–छोटे अपराधों में अंग विच्छेद सामान्य प्रथा थी।

प्राचीन भारत में कारागार दण्ड का भी उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध में विस्तृत उपबंध प्राप्त होता है।[23] जिससे पता चलता है कि बंदियों को अनुशासन में रहना पड़ता था, उनसे परिश्रमिक कराया जाता था। बंदियों में बाल अपराधी तथा स्त्रियाँ भी होती थी। स्मृति ग्रन्थों में भी कारागार दण्ड का विधान मिलता है जिसमे विहित है कि राजा को चाहिए कि वह अपराधी को कारागार में डालकर, उसे अपराधानुसार न्याय करें।[24] शुक्र ने भी कारागार दण्ड के सम्बन्ध में विस्तृत उपबंध प्रस्तुत किया। जिससे विदित होता है कि मनुष्य यदि धन के घमंड मे आकर अपराध करता है तो उसका न केवल धन छीन लेना चाहिए अपितु उसे बन्दी बना लेना चाहिए। इस प्रकार बंधनागार दण्ड प्राचीन भारत में प्रचलित था, जिसके अन्तर्गत अपराधी को कारागार में डालकर उसका सुधार किया जाता था।

इसके अतिरिक्त देश निष्कासन दण्ड की प्राचीन भारत में दण्ड के रूप में प्रचलन था। कौटिल्य ने जादू–टोना करने वाले को देश से निष्कासित करने का निर्देश दिया। मनु ने चोरो, पुलों को क्षतिग्रस्त करने वाले तथा प्रतिज्ञा पर न रहने वालों चोर, धूतक्रीड़ा करने वाले एवं अराजकता उत्पन्न करने वालों को राज्य से बहिष्कृत का उपबन्ध किया।

दण्ड की व्यवस्था में भी भेदभाव होने के संकेत प्राप्त होते हैं। एक ही प्रकार का अपराध करने पर विभिन्न वर्णों में अलग–अलग दण्ड की व्यवस्था की गई थी।

याज्ञवल्क्य ने चार प्रकार के न्यायालयों का विधान किया है–

1. न्याय सभा या धर्म समा। इसमें राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी विवादों का निर्णय करते हैं
2. पूग
3. श्रेणी
4. कुल

न्याय की व्यवस्था में स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात किया है। ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त है। वे महान अपराध करने पर भी दण्ड से बाहर हैं परन्तु मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य ने शूद्रों के समता और स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार किया है।[25]

संदर्भ

1. ऋग्वेद 10/71/0
2. वही 1/15/3–4
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय–338?
4. मा0 310 : 8
5. मा0 239 : 9
6. मा0 189 : 531 : 11
7. मा0 189 : 53 : 12
8. मा0 231 : 9
9. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.359–360
10. मनुस्मृति, 8.128, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.357
11. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.356
12. महा0 शान्ति, 160/168 वृहि0: 27/4
13. मनु0 8/129, याज्ञ; 1/137
14. नारद; 53/54
15. मनु0 8/138, याज्ञ, 1/366

16. गो0ध0सू0 12/15/16 मनु0 8/338–339
17. अशोक का अभि0–13
18. मनु0 9/238, 8/379–80
19. बुद्ध; 7/190
20. महा0 शान्ति, 268 अध्याय
21. मनु0; 8/287, याज्ञ0; 2/222
22. मनु0 8/271, 279, 370
23. अर्थ; 4/9
24. मनु0 8/310
25. के0पी0 जायसवाल, मनु0 याज्ञवल्क्य् पृ0 85.92